प्राकृत अध्ययन ग्रन्थ माला-१

प्राकृत साहित्य और भारतीय परम्पराएँ

PRAKRIT LITERATURE AND INDIAN TRADITIONS

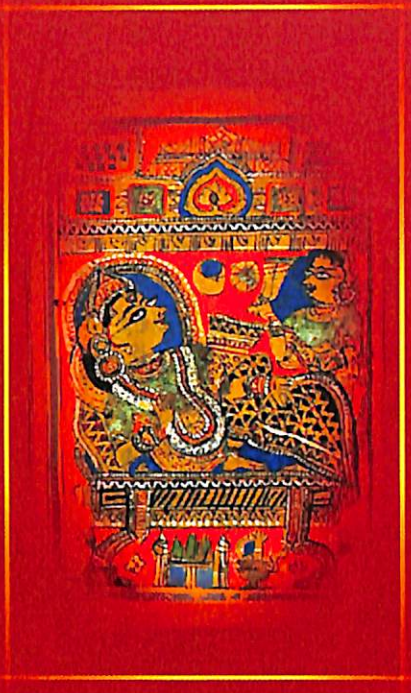

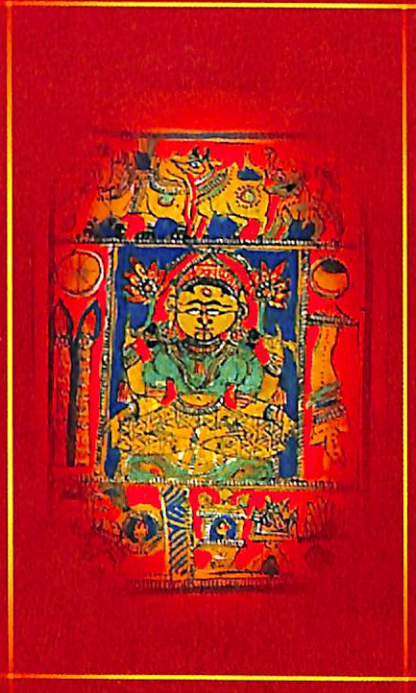

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी

भूमिका

बहुलता और विविधता भारतीय संस्कृति व परंपराओं की पहचान रही है। यह बहुलता और विविधता इस देश के भाषाई परिप्रेक्ष्य में भी परिलक्षित होती है। एक अर्थ में हमारा देश भाषाओं का महासागर है। आरंभ से ही यह देश बहुभाषी रहा है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में धरती माता के लिये कहा गया है – '*जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्*' - यह धरती जो अपनी गोद में विविध भाषाओं को बोलने वाले और विविध धर्मों का पालन करने वाले लोगों को धारे हुए है। इस बहुभाषिकता के साथ भाषाओं में परस्पर अन्तःक्रिया और अन्तःसंवाद भी हमारे देश की भाषिक स्थिति की विशेषता रही है। भारतीय भाषापरिवार में वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि तथा प्राकृत ये भाषाएँ परस्पर इतनी अधिक संश्लिष्ट तथा घनिष्ठ रूप से संबद्ध रही हैं कि इन्हें कहीं-कहीं तो अलग-अलग भाषाएँ माना ही नहीं गया, विशेष रूप से वैदिक और लौकिक संस्कृत तो एक भाषा ही है।

हमारी परंपरा में आचार्यजन शास्त्रविमर्श में प्रायः एकवचन का प्रयोग नहीं करते। यूरोप के व्यक्तिवाद के हमारी धरती पर आगमन के कारण आधुनिक भाषाओं में विमर्श के क्रम में आज के लेखक अब अपने लिये एकवचन का प्रयोग करने लग गये हैं। बहुवचन और बहुलता की संस्कृति में एक व्यक्ति अपने लिये या किसी एक व्यक्ति के लिये बात करे यह प्रायः कम होता था। विचार और प्रत्ययों के विकास की प्रक्रिया पर बहुवचन के इस परिप्रेक्ष्य का दूरगामी प्रभाव होना स्वाभाविक था। एक प्रत्यय हमारे विमर्श में एकाकी नहीं आता, प्रत्येक प्रत्यय विविध पूर्वपक्षों और उनके उत्तरपक्षों के रूप में तरह-तरह के प्रति प्रत्ययों के साथ हमारे विमर्श की भाषा में आता है।

इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं की सहवर्तिता के साथ इन भाषाओं में भी संस्कृति की यह बहुलता संक्रांत हो यह स्वाभाविक था। संस्कृत और प्राकृत दोनों ही मूलतः जनसमाज में प्रचलित रही हैं, इन दोनों में संवाद की एक सतत और सुदीर्घ प्रक्रिया ने हमारे शास्त्रीय विमर्श और साहित्यिक परंपराओं को संपन्न बनाया है। प्राकृत भाषा लोकभाषा रही है, पर संस्कृत भाषा के साथ संवाद की प्रक्रिया ने उसमें शास्त्रीय विमर्श और कविता की परंपरा को भी संपन्न बनाया। इसी तरह प्राकृत के साथ संवाद के क्रम में संस्कृत में लोक जीवन के काव्य और उसके विमर्श को स्फूर्ति मिली। इसी तरह चरितलेखन, इतिहासरचना, छन्दःशास्त्र, कविसमय, मुहावरे, लोकोक्तियाँ काव्यविधाएँ, कथानक रूढ़ियाँ, आख्यान-उपाख्यान- इन सब के पारस्परिक आदान-प्रदान के द्वारा संस्कृत, पालि और प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य संपन्न बना।

प्राकृत भाषा का संबंध जैन धर्म, जैन दर्शन और जैन परंपराओं से विशेष रूप से रहा है। जैन धर्म-दर्शन और परंपरा में स्याद्वाद या सप्तभंगीनय तथा अनेकांतवाद की अनन्य प्रतिष्ठा है। अनेकांतवाद एक बहुलतावादी दृष्टि है। स्याद्वाद तथा अनेकांतवाद का समग्र चिंतन बहुलता और विविधता पर

आगम–ग्रन्थों में जैन–न्याय

धर्मचन्द जैन

"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" (न्यायभाष्य) वाक्य के अनुसार प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। इस दृष्टि से प्रमाणशास्त्र का प्रतिपादन करने वाले दर्शन न्यायविद्या के प्रतिपादक दर्शन भी हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि अवयवों से अनुमान करना एवं कराना भी न्यायविद्या का अंग है। इस दृष्टि से भारतीय परम्परा में न्यायविद्या प्रायः सभी दर्शनों का अंग रही है, तथापि न्यायदर्शन, बौद्धदर्शन एवं जैनदर्शन में न्यायविद्या पर विशाल साहित्य की रचना हुई है। न्यायदर्शन में प्राचीन न्याय एवं नव्यन्याय के रूप में न्याय की प्रसिद्धि है। मध्यकालीन न्याय में डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने बौद्धन्याय एवं जैन न्याय की विशेष चर्चा की है।[1]

विचारणीय बिन्दु यह है कि जिस प्रमाण की चर्चा सिद्धसेन की न्यायावतारिका में, अकलंक के लघीयस्त्रय में, न्याय-विनिश्चय एवं प्रमाण-संग्रह में, विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा, अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में, प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र में, हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा में, वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर में तथा यशोविजय की जैन-तर्क-भाषा आदि दार्शनिक ग्रंथों में मिलती है, क्या वैसा प्रमाण का चिन्तन आगम-साहित्य में भी उपलब्ध है? यह तो कहा जा सकता है कि जितना व्यवस्थित प्रमाण-विषयक चिन्तन न्याययुगीन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होता है वैसा आगमों में नहीं है। किन्तु यह भी स्वीकार करना ही होगा कि आगमों में उपलब्ध प्रमाण-प्रतिपादन के बीज ही उत्तरकाल में प्रमाणचिन्तन के विशाल वटवृक्ष के रूप में विकसित हुए हैं।

जैनदर्शन में ज्ञान कि वा सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण[2] कहा गया है। इस अर्थ में यदि आगम-साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो स्थानांगसूत्र, नन्दीसूत्र, भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में ज्ञान-मीमांसा का जो निरूपण प्राप्त है वह सब प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत समाहित हो जाता है। किन्तु प्राचीन आगम-ग्रन्थों में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग ज्ञान से भिन्न अर्थ में भी किया गया है। स्थानांग सूत्र में प्रमाण शब्द का अर्थ 'ज्ञान' न होकर 'मापन' ग्रहण किया गया है तथा उसके चार भेद किए हैं - द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र-प्रमाण, काल-प्रमाण और भाव-प्रमाण।[3]

---

1. History of the Mediaeval School of Indian Logic, Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi, 1977
2. 'अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम् अतो ज्ञानमेवेदम्।' - प्रमाणनयतत्त्वालोक, परिच्छेद 1 सूत्र 3
3. 'चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे'-स्थानांग सूत्र 258

प्रकाशक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीन)
56-57, इन्स्टीट्यूशनल् एरिया,
जनकपुरी
नई दिल्ली-110058
दूरभाष:- 011-28524993, 28521994, 285244995

न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन
5824, शिव मंदिर के पास,
न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली - 110007
दूरभाष : 91-11-23851294, 23854870
ई मेल : newbbc@indiatimes.com

ISBN 81-8611135-2